

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

आस्था-संकट-प्रकरण

अभूत् सत्रस्य षष्ठं च दिनमद्य श्रुतं जनैः ।
जिज्ञासुभिः कथं देवसंस्कृतिर्भारतोदिता ॥ १ ॥
समस्तेऽपि तु संसारे ज्ञानालोकं व्यधात् तथा ।
प्रकाशयति संपूर्णं विश्वं दिनकरो यथा ॥ २ ॥
मर्त्ये देवत्वभाविन्या धरित्र्यां स्वर्गसंस्थितेः ।
कारिण्या गौरवं लोकैर्विभूतेर्ज्ञातमुत्तमम् ॥ ३ ॥
तथ्यमेतच्च विज्ञातुं संदेहो नैव कस्यचित् ।
अवशिष्टो यदन्येषां प्राणिनां तुलनाविधौ ॥ ४ ॥
अनेकदृष्टिभिर्हीनो मनुष्यः कथमेष तु ।
सृष्टेर्मुकुटरलत्वं सहसैव गतो महान् ॥ ५ ॥

टीका—आज सत्र का छठा दिन था। देवसंस्कृति ने भारत भूमि में उदित होकर समस्त संसार में किस प्रकार दिनकर जैसा प्रकाश फैलाया यह विवरण सभी जिज्ञासुओं ने ध्यानपूर्वक सुना। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण करने वाली इस विभूति की गरिमा को उन्होंने गंभीरतापूर्वक समझा। किसी को इस तथ्य को समझने में संदेह न रहा कि अन्य प्राणियों की तुलना में अनेक दृष्टियों से गए-गुजरे मनुष्य को किस कारण सृष्टि का मुकुटमणि बनने का अवसर मिला ॥ १-५ ॥

मनुष्य अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण ही श्रेष्ठ बना है, अन्यथा इंद्रिय क्षमता, उदारता, वफादारी तथा संवेदना में वह पशुओं से मात खा सकता है।

बुद्धिवैशिष्ट्यहेतोर्वा शरीररचनाविधे ।
कारणानैव स त्वत्र सर्वायाः प्रगतेरयम् ॥ ६ ॥
सुयोगस्त्वस्य चायात आदर्शचरितग्रहात् ।
उत्कृष्टचिंतनाच्चैव मेधावित्वविधेरलम् ॥ ७ ॥
मनुष्याणां गरिम्णास्ता अनुरूपाश्च भावनाः ।
मान्यता निःसृता देवसंस्कृतेरेव शोभनाः ॥ ८ ॥
अतः सा हि मनुष्याणां कृते भगवतो ध्रुवम् ।

मन्यतामनुदानं तदिद्वयं मानवमंगलम् ॥ ९ ॥
विभिन्नेषु हि देशेषु जातिष्वपि च दृश्यते ।
यदौत्कृष्ट्यं स्वरूपाच्च भिन्नस्यास्तिहिमालयः ॥ १० ॥
उद्गमस्थलमेषोऽत्र धर्मो यत्र स उद्गतः ।
भारतीयस्तथा नद्यो निर्गता वारिपूरिताः ॥ ११ ॥

टीका—मात्र मस्तिष्क संबंधी विशेषता एवं शरीर सरंचना के कारण नहीं, मनुष्य को समग्र प्रगति का सुयोग उत्कृष्ट चिंतन, मेधाविता और आदर्श चरित्र अपनाने के कारण मिला है। मानवी गरिमा के अनुरूप मान्यताएँ और भावनाएँ देवसंस्कृति से ही निःसृत हुई हैं। इसलिए उसे समस्त मनुष्य जाति के लिए भगवान का कल्याणकारी दिव्य अनुदान ही माना जा सकता है। विभिन्न देशों और जातियों में जो उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है, उसका स्वरूप भिन्न दीखते हुए भी उनका मूल उद्गम भारतीय धर्म का हिमालय ही है। न सूखने वाली सरिताएँ उसी से निकलीं और विभिन्न दिशाओं में गतिमान हुई हैं ॥ ६-११ ॥

मानव का विकास सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर हुआ है। देवसंस्कृति इस विद्या में सर्वोपरि रही है और उसके अनुदान विश्व की अनेक संस्कृतियों को मिले हैं। उनके प्रमाण आज भी मिलते हैं।

तथ्यमेतद् विदित्वाऽस्य चित्ते शंकोदिता नवा ।
कणादस्य महर्षेः सा जिज्ञासोर्मंगलोन्मुखा ॥ १२ ॥
यद्येवं तर्हि जायंते विग्रहा धर्मकारणात् ।
कथं संस्कृतयो भिन्ना युद्धयंते च परस्परम् ॥ १३ ॥
धर्ममाश्रित्य जायंते पाखंडेन सहैव च ।
अनाचाराः कथं भूमौ तीव्रा लज्जाकरा नृणाम् ॥ १४ ॥
मनसः स्वस्य संदेहो बद्धहस्तेन तेन च ।
उक्तो महर्षिणा तत्र सोऽग्रे कात्यायनस्य तु ॥ १५ ॥
शंकां समाहितां कर्तुमनुरोधं व्यधादपि ।
सत्रसञ्चालकस्यास्य मुनेः कात्यायनस्य सः ॥ १६ ॥
टीका—इस तथ्य को समझने के उपरांत जिज्ञासु ऋषिवर

कणाद के मन में मंगलोन्मुख एक शंका उत्पन्न हुई कि यदि ऐसा ही है, तो फिर इन दिनों धर्म के नाम पर इतने विग्रह क्यों दृष्टिगोचर होते हैं? संस्कृतियाँ आपस में टकराती क्यों हैं? धर्म के नाम पर मानव मात्र के लिए लज्जास्पद पाखंड और अनाचार क्यों होते हैं? अपने मन का संदेह उन्होंने करबद्ध होकर महामुनि कात्यायन के सम्मुख व्यक्त किया और शंका के समाधान का अनुरोध सत्र-संचालक ऋषि कात्यायन से किया। ॥ १२-१६ ॥

मनीषियों ने सांस्कृतिक चेतना की महत्ता समझी। देवसंस्कृति के आधारों में वर्णाश्रम व्यवस्था, संस्कारों, पर्वों तथा देवालय तीर्थों के माध्यम से महामानव बनाने का ऋषि तंत्र कर्मफल और मरणोत्तर जीवन के आधार पर आदर्श निष्ठा के सूत्र समझे। इतने श्रेष्ठ सूत्र तथा इतनी सटीक व्यवस्था के होते हुए भी विग्रह क्यों? संस्कृति सहयोग और विकास के लिए है, उसमें टकराव और विग्रह, पतन क्यों? संस्कृति सहयोग और विकास के लिए है, उसमें टकराव और विग्रह-पतन क्यों? यह स्वाभाविक जिज्ञासा जो जन-मन में उभरी, उसको ऋषि कणाद ने व्यक्त किया। यह एक कटु सत्य का सर्वेक्षण है।

कात्यायन उवाच

सौम्य कालांतरे नूनमुत्तमान्यपि चान्ततः।

वस्तूनि विकृतेर्हेतोर्जराजीर्णतया पुनः ॥ १७ ॥

गच्छन्त्यनुपयोगित्वं प्राणिवृक्षगुहा इव।

अखाद्यतां यथा यांति द्वितीयेऽह्नि तु भोजनम् ॥ १८ ॥

क्रमस्य नियतेरेष उपचारस्तु विद्यते।

अस्य संततमेव स्याज्जीर्णोद्धारस्तु कालिकः ॥ १९ ॥

शरीरस्याथ वस्त्राणां नित्यं प्रक्षालनं मतम्।

कक्षाणां शोधनं चात्र पात्रसंमार्जनं तथा ॥ २० ॥

शस्त्रेषु धारा निर्मेया भवत्येव निरंतरम्।

एवं रीतिषु जायंते क्रमाद् विकृतयश्च ताः ॥ २१ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन ने कहा सौम्य! कालांतर में उत्तम वस्तुएँ भी विकृतियों के कारण जराजीर्ण होकर अनुपयोगी बन जाती हैं। प्राणी, भवन, वृक्ष सभी पर वृद्धता आती है। भोजन अगले दिन अखाद्य बन जाता है। इस नियति क्रम का उपचार, समय-समय पर जीर्णोद्धार करते रहना है। शरीर, वस्त्र आदि को नित्य धोना पड़ता है। कमरे को बुहारना और बरतन को माँजना पड़ता है। शस्त्रों पर धार रखनी पड़ती है। इसी प्रकार प्रथा-प्रचलनों में भी विकृतियाँ घुस पड़ती हैं ॥ १७-२१ ॥

कालानुरूपं सर्वत्र व्यवस्था शोध्यते तथा।

परिवर्तयितुं चापि बाध्यता भवति स्वतः ॥ २२ ॥

कारणं चेदमेवास्ति परिवर्तनतामिह।

संविधानानि गच्छन्ति कालिकानि सदैव तु ॥ २३ ॥

ऋषयोऽपि स्थितीर्दृष्ट्वा स्मृतीः स्वा व्यधुरुत्तमाः।

अतएव तु भेदोऽपि स्मृतिष्वत्र विलोक्यते ॥ २४ ॥

पूर्वेषां ग्रंथकर्तृणां नापमानमिदं स्मृतम्।

भूषणानां च वस्त्राणां जीर्णानां नवतात्विदम् ॥ २५ ॥

टीका—समय के साथ व्यवस्था भी बदलनी और सुधारनी पड़ती है। यही कारण है कि समय के अनुरूप विधान बदलते रहते हैं। ऋषियों ने बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप स्मृतियाँ बदली हैं, इसी से स्मृतियों में कहीं-कहीं अंतर दृष्टिगोचर होता है। यह पूर्व निर्धारण कर्त्ताओं को अपमान नहीं, वरन पुराने वस्त्र, आभूषण के स्थान पर नया शृंगार करने जैसा उपयोगी है ॥ २२-२५ ॥

परिवर्तनमायाते समये जीर्णतोदिता।

यदि विकृतयस्तीव्रा वर्द्धितास्तर्हि तद्ग्रहः ॥ २६ ॥

सर्वथाऽनुचितो मर्त्याः संति ये तु दुराग्रहाः।

पुराणं साधु नव्यं च दूषितं सर्वमित्यहो ॥ २७ ॥

दुराग्रहिण एते च पारंपर्यानुधाविनः।

तद्गृह्णांति मृतान् पुत्रान् यथा वानर्य आतुराः ॥ २८ ॥

टीका—समय बदल जाने पर जीर्णता जन्य विकृतियाँ बढ़ जाने पर भी उन्हें अपनाए रहने का आग्रह अनुचित है। दुराग्रही लोग जो पुराना सो अच्छा, जो नया सो बुरा की दुराग्रही दृष्टि अपना लेते हैं और जो कुछ चल रहा है, उसे परंपरा कहकर अनुपयोगी को भी, मरे बच्चे को छाती से लगाए फिरने वाली बंदरी का उदाहरण बनते हैं ॥ २६-२८ ॥

दुग्धेऽत्र मक्षिकापातो भवेच्चेत्तदपेयताम्।

गच्छति प्राय एवं हि विकृतेर्विकृता इमे ॥ २९ ॥

धार्मिकाः संप्रदायास्तु युध्यन्तेऽत्र परस्परम्।

विकृतीरपि चेदत्र वदन्त्येव परंपराः ॥ ३० ॥

दुराग्रहा गृहीतास्ता यान्यत्राधमतां प्रथाः।

उत्थापयति मर्त्यं तन्मूलं धर्मस्य संस्कृतेः ॥ ३१ ॥

अग्रगं तं करोत्येवं सार्वभौमदृशा तथा।

उन्नतं सुखिनं कर्तुं सहयोगं करोत्यलम् ॥ ३२ ॥

टीका—दूध में मक्खी पड़ जाने पर वह अखाद्य बन जाता है। इसी प्रकार इन दिनों प्रचलित धर्म-संप्रदाय भी परस्पर लड़ते-टकराते देखे जाते हैं। उनमें घुसी हुई विकृतियाँ जब परंपरा कही और दुराग्रहपूर्वक अपनायी जाती हैं, तो उत्तम भी अधम बन जाता है। अन्यथा धर्म और संस्कृति का मूल स्वरूप मनुष्य का ऊँचा ही उठाता है तथा उसे आगे बढ़ाता और हर दृष्टि से सुखी-समुन्नत बनाने में सहायता करता है ॥ २९-३२ ॥

देव-संस्कृति के सूत्र दूध की तरह निर्मल हैं, परंतु मानवीय दुश्चिंतन उन्हें दूषित बना देता है। अनेक श्रेष्ठ

४.४८ प्रज्ञोपनिषद्

परंपराएँ आज भी उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, परंतु विकारों की मिलावट के कारण उन्हें अपनाया जाना हारिकारक लगता है। विकारों की मिलावट रोकी जा सके, तो वे सौभाग्यकारी हो जाएँ।

संस्कृतेनैव दोषोऽस्ति, पाखंडस्य तथैव च।
अनौचित्यस्य दोषोऽयं यस्तां दूषयति स्वतः ॥ ३३ ॥
परिमार्जनमेतस्य भवेदेव निरंतरम्।
परिशोधनमप्यस्यावाञ्छनीयस्य कर्मणः ॥ ३४ ॥
कालावश्यकतां वीक्ष्य निर्धारणविधिश्चलेत्।
अन्यथा धर्मतामेति पाखंडस्य परंपरा ॥ ३५ ॥
दुराचारिण एतेऽत्र तदाश्रित्य च कुर्वते।
भ्रातान्साधारणान्मर्त्यान् स्वार्थसंसाधयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

टीका—यह दोष संस्कृति का नहीं उसमें किसी कारण घुस पड़ने वाले पाखंड अनौचित्य का है, जो उसे दूषित कर देते हैं। इसका परिमार्जन निरंतर होते रहना चाहिए। प्रचलित अवाञ्छनीयता का परिशोधन और सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप निर्धारण की प्रक्रिया निरंतर चलती रहनी चाहिए। अन्यथा पाखंड ही धर्म कहलाने लगेगा और उसकी आड़ में दुराचारियों को भ्रम फैलाने, अनुचित स्वार्थ साधने का अवसर मिलता रहेगा ॥ ३३-३६ ॥

पिछले उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रेष्ठ प्रवाह में भी विकार पैदा हो जाते हैं। उन विकारों की हानियों का दोष मूल आदर्शों पर नहीं लगाना चाहिए। किंतु उसके लिए आवश्यक है कि आदर्शों और विकारों को अलग-अलग करके देखा जाए। जिन कारणों से विकार पैदा हुए, उनका निवारण किया जाए, शुद्ध आदर्शों की गतिशील संदर्भों में प्रयुक्त किया जाए। यदि वह श्रम न किया गया, तो दोषों के साथ आदर्शों की आड़ में दोषों और दुराचारियों को प्रश्रय मिलता रहेगा।

इमा विकृतयो नैव केवलं धर्मसंस्कृतौ।
प्रविशंति परं सर्वा नैतिके बौद्धिकेऽथ च ॥ ३७ ॥
क्षेत्रे सामाजिकेऽप्यत्र प्रविशंति पुनः पुनः।
आहारेऽथ विहारे च व्यवहारे तथैव च ॥ ३८ ॥
धनस्योपाजने भोगे व्यवसाये जना इह।
अवाञ्छनीयतां यांति विलासाकर्षणोदिताम् ॥ ३९ ॥
मदसेवनजादीनि व्यसनान्युद्भवन्त्यपि।
अस्मादेव हि हेतोश्च स्वस्मिन् देशेऽपि सन्त्यहो ॥ ४० ॥
भिक्षाया व्यवसायोऽयं जात्याहंकारजोच्यता।
अवगुंठनता सेयं विवाहेऽप्यव्ययो महान् ॥ ४१ ॥
पशूनां बलिदानं च मृतभोजो बृहत्तरः।
बहुविधा रीतयो लोके चलिता एवमेव तु ॥ ४२ ॥
बहुप्रजननस्यात्र पश्यंतः फलमत्यगम्।
मिथ्या प्रदर्शनेष्वेते व्ययं च कुर्वते भृशम् ॥ ४३ ॥

टीका—यह विकृतियाँ न केवल धर्म-संस्कृति में घुसती रहती हैं, वरन नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक क्षेत्रों में भी उनका प्रवेश होता रहता है। लोग आहार-विहार, व्यवहार-व्यवसाय, उपार्जन-उपयोग जैसे दैनिक प्रयोजनों में भी विलास-आकर्षण के नाम पर अवाञ्छनीयता की आदत डाल लेते हैं। नशेबाजी जैसे अनेक दुर्व्यसन इसी कारण पनपे हैं। अपने देश में भिक्षा-व्यवसाय, उपार्जन-उपयोग जैसे दैनिक प्रयोजनों में भी विलास-आकर्षण के नाम पर अवाञ्छनीयता की आदत डाल लेते हैं। नशेबाजी जैसे अनेक दुर्व्यसन इसी कारण पनपे हैं। अपने देश में भिक्षा-व्यवसाय, जातिगत ऊँच-नीच, पर्दा-प्रथा, विवाहों में अपव्यय, पशुबलि, बड़े-बड़े मृतक भोज जैसे अनेक अनाचारों का प्रचलन चल पड़ा है। बहु प्रजनन के दुष्परिणामों की ओर से आँखें बंद किए रहते हैं। फैशन और टाट-बाट के निमित्त ढेरों पैसा खर्च करते हैं ॥ ३७-४३ ॥

धर्म-संस्कृति ही मनुष्य को सदाचार, सद्भाव की मर्यादा में रख सकती है। उसमें विकार आ जाने से धार्मिक क्रियाकलापों में दोष पैदा होते ही हैं, जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उलटा चक्र चल पड़ता है। चिंतन और आचरण की मर्यादाहीनता अगणित दोष पैदा करती है और मनुष्य न चाहते हुए भी उनके शिकंजे में कसता चला जाता है। ऊपर जीवन के जिन-जिन क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है, उन सब में न चाहते हुए भी मनुष्य पिस रहा है, यह हर जगह देखा जा सकता है।

एतेषु दिवसेष्वत्र समायात्यनिशं भृशम्।
व्यक्तौ तथा समाजेऽपि दारिद्र्यस्य तथैव च ॥ ४४ ॥
अस्वास्थ्यस्यासुरक्षाया विपत्तिर्येन वर्द्धते।
मनोमालिन्यपूर्णः स कलहस्तु गृहे गृहे ॥ ४५ ॥
जने जने च वर्द्धते इहासंतोष आशु सः।
अविश्वासस्तथा चैषोऽसहयोगविधिः स्वतः ॥ ४६ ॥

टीका—इन दिनों व्यक्ति और समाज पर अस्वस्थता, असुरक्षा, दरिद्रता की विपत्ति लदती जा रही है। घर-परिवारों में कलह, मनोमालिन्य बढ़ रहा है। जन समुदाय के मध्य असहयोग, असंतोष, अविश्वास असाधारण रूप से बढ़ रहा है ॥ ४४-४६ ॥

चाहे व्यक्तिगत अस्वस्थता, असुरक्षा हो चाहे पारिवारिक मनोमालिन्य और चाहे सामाजिक असहयोग अविश्वास। इन सबका जनक मनुष्य स्वयं ही है।

संकीर्णस्वार्थबुद्ध्या च विलासस्याथवा पुनः।
प्रमादस्य प्रवृत्त्या वा मदसेवनतोऽथवा ॥ ४७ ॥
सारहीनमभूत्सर्वं जनजीवनमुत्तमम्।
कारणं केवलं चैता दुष्प्रवृत्तय एव तु ॥ ४८ ॥

अपराधिप्रवृत्तीनां प्रवृद्धानां तु कारणात्।
प्रत्येकं पुरुषो नूनमातंकित इह स्वयम् ॥ ४९ ॥
विनाशसंकटश्चात्र समाजे समुपस्थितः।
निर्मियते स्वतोऽज्ञातं वातावरणमीदृशम् ॥ ५० ॥
केवलं सभ्यताया न संचितायाः परं महान्।
संकटो मानवास्तित्वे दृश्यते समुपस्थितः ॥ ५१ ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता, विलासिता, नशा, प्रमाद की दुष्प्रवृत्तियों के कारण जनजीवन खोखला हुआ जा रहा है। बढ़ती हुई अपराधी प्रवृत्ति के कारण हर व्यक्ति आतंकित जैसा दीखता है। समूचे स्थान पर विनाश के संकट छाए हुए हैं। वातावरण ऐसा बन रहा है, मानो संचित सभ्यता का ही नहीं, मानवों अस्तित्व के लिए भी संकट खड़ा हो गया है ॥ ४९-५१ ॥

उत्तमोदेदृश्यहेतोर्थाः कदाचिद्रीतयः शुभाः।
प्रारब्धा भ्रांतिभिर्जाता अयोग्या विकृतिं गताः ॥ ५२ ॥
दुराग्रहोऽथ मोहश्च नोचितोऽत्र मनागपि।
हिमाद्रिनिर्गता गंगा क्षारतां याति सिंधुगा ॥ ५३ ॥
ततः सूर्येण वाष्पत्वं प्रापिता जलदायिता।
हिमतामधिगत्यैव शुद्धत्वं भजते स्थिरम् ॥ ५४ ॥
संस्कृतेरपि संबंधे वातैषैव तु विद्यते।
सूक्ष्मद्रष्टार एतेऽत्र मुनयश्च मनीषिणः ॥ ५५ ॥
जागरूकास्तु तिष्ठन्ति त्यक्तुं सर्वदुराग्रहम्।
विवेकं जाग्रतं नृणां कुर्वतो मान्यतासु च ॥ ५६ ॥
परिवर्तनकं वातावरणं कुर्वते तथा।

अभियानं बृहन्मूलं दृढं सञ्चालयन्त्यपि ॥ ५७ ॥

टीका—जो प्रथाएँ कभी उत्तम उद्देश्यों को लेकर विनिर्मित हुई थीं, वे ही भ्रांतियों और विकृतियों के मिलते चलने पर समयानुसार अनुपयुक्त बन जाती हैं। तब उनके प्रति दुराग्रही मोह अपनाना अनुचित है। हिमालय से निकलने वाली गंगा की धारा भी समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते खारी हो जाती है। तब उसे सूर्य भाप बनाकर बादल बनाता है। हिमालय में पहुँचकर वही बादल बरफ बन जाते हैं और उस परिवर्तन के कारण ही गंगा का शुद्ध स्वरूप स्थिर रहता है। संस्कृति के संबंध में भी यही बात है। सूक्ष्मदर्शी मुनि-मनीषी इस पर्यवेक्षण के प्रति जागरूक रहते हैं। वे दुराग्रह के स्थान पर विवेक जगाते और जो उचित है, उसे अपनाने के लिए मान्यताओं में हेरफेर करने वाला दृढ़ एवं गहरी पकड़ वाले अभियान चलाते, वातावरण बनाते हैं ॥ ५२-५७ ॥

अनौचित्यमिदानीं यद् व्याजाद् धर्मस्य संस्कृतेः।

जृम्भते कारणं तस्य केवलं यन्मनीषिभिः ॥ ५८ ॥
संशोधनानि नैवात्र कालजानि कृतानि तु।
परिवर्तनजो रुद्धः प्रवाहो यदि जायते ॥ ५९ ॥

वार्षिकं सलिलं गर्तमध्यस्थमिव विकृतिम्।

धर्मक्षेत्रे प्रयान्त्यन्धविश्वासैश्च दुराग्रहैः ॥ ६० ॥

टीका—इन दिनों जो धर्म संस्कृति के नाम पर अनौचित्य का बोलवाला है उसका कारण एक ही है कि मनीषियों ने सामयिक संशोधन का ध्यान नहीं रखा। सुधार-परिवर्तन का प्रवाह रुक जाने से, वर्षा का शुद्ध जल किसी गड्ढे में अवरुद्ध पड़ा रहने पर सड़ने लगता है। ऐसी दुर्गति धर्मक्षेत्र में अंधविश्वास एवं दुराग्रह घुस पड़ने से भी होती है ॥ ५८-६० ॥

उपयुक्त संशोधन जब न किए जा सके, तभी देवसंस्कृति के नाम को बट्टा लगा, जब उन्हें समय पर कर लिया गया, तब बिगड़ती परिस्थितियाँ तुरंत सुधर गईं।

वैशिष्ट्यमिदमेवाभूत् सर्वदा देवसंस्कृतेः।

विवेकबुद्धये श्रद्धाभावनायै परिष्कृतम् ॥ ६१ ॥

सुदृढं च ददौ दिव्यमाधारमुभयोः कृते।

मानवी यत्र श्रद्धेयं विवेकेन सहैव च ॥ ६२ ॥

तिष्ठेदाधारमाहुस्तमास्थाबिदुमथापि च।

महामानवतां याति देवत्वं चास्थया नरः ॥ ६३ ॥

आस्थाया विरहे तस्मिन् पशुता समुदेति हि।

अकाट्यं सत्यमेवैतद् वर्तते च महत्तमम् ॥ ६४ ॥

टीका—देवसंस्कृति की सदा यह विशेषता रही है कि उसने विवेक बुद्धि तथा श्रद्धा भावना दोनों पक्षों के लिए परिष्कृत और सुदृढ़ आधार दिए हैं। जिन पर मानवी श्रद्धा एवं विवेक दोनों टिक सकें, उन्हें आस्था के बिंदु या आधार कहते हैं। आस्था के सहारे ही मनुष्य मानव महामानव और देवमानव बनता है। आस्था के अभाव में उसमें पाशविकता उभरने लगती है, यह एक अकाट्य महान सत्य है ॥ ६१-६४ ॥

भारतीय संस्कृति विवेक और भावना दोनों के संयोग की अपनी विशेषता से ही विश्वमान्य बनी। सारे विश्व में विभिन्न समयों में हुए विचारक जिज्ञासु मनीषियों ने इसे इसी आधार पर सराहा है।

दाराशिकोह (औरंगजेब के बड़े भाई) उपनिषदों का अध्ययन करते थे। एक दिन वे मस्ती में झूम रहे थे। उनकी भतीजी ने पूछा चचा जान, आप नशा तो करते नहीं, फिर ऐसे मस्त कैसे हो रहे हैं? दारा बोले, बेटी यह मस्ती नशे की नहीं दिव्य ज्ञान की है। उपनिषदों को पढ़ने के बाद मुझे लगा कि ज्ञान की मस्ती कितनी गहरी होती है।

मैक्समूलर ने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया। वे कहते थे, भारत की सांस्कृतिक विरासत इतनी महान है कि इसके लिए एक क्या दस जन्म भी लगा सकूँ, तो सार्थक समझूँगा।

४.५० प्रज्ञोपनिषद्

पादरी लैडविटर (थियोसाफिकल सोसाइटी के मान्य संत) कहते थे, भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने से पूर्व आंतरिक संतोष नहीं मिला था। ईसाई और इस्लाम मत में श्रद्धा तो दिखी, विवेक की तुष्टि नहीं हुई। पाश्चात्य दर्शन में विवेक मिला, पर संवेदनाओं की प्यास न बुझी। भारतीय दर्शन में दोनों का योग है, यह वास्तव में योगी है।

विज्ञानेन सहैवात्र बुद्धिवादोऽभिवर्द्धते ।

जर्जरा विकृता यास्तु संति लोके परंपरा ॥ ६५ ॥

अस्वीकृता विवेकेन ता न चान्याः समुत्थिताः ।

श्रद्धा तिष्ठन्ति नान्येषु सांस्कृत्यं चेतनां विना ॥ ६६ ॥

आस्थायाञ्च नवान् बिन्दूनप्राप्याऽयमभून्नरः ।

आस्थाहीनस्ततो वृद्धिं तदसंतुलनं गतम् ॥ ६७ ॥

टीका—विज्ञान के साथ बुद्धिवाद बढ़ा है। जर्जर-विकृत परंपराओं को विवेक ने अस्वीकार कर दिया है। नए आधार बने नहीं, कुछ बने, तो उनमें सांस्कृतिक चेतना की झलक न मिलने से श्रद्धा उन पर टिकती नहीं। आस्था के नए आयाम न मिल सकने से मनुष्य आस्थाहीन हो गया। उसी के कारण सारा असंतुलन बढ़ रहा है ॥ ६५-६७ ॥

बढ़ती बौद्धिकता ने उन सब आधारों को मानने से इंकार कर दिया, जिनमें विकार पैदा हो गए थे। यह ठीक भी था। परंतु विकार तो सभी में पैदा हो गए थे, सब कुछ हटा देने पर मान्यता कहाँ टिके, ये समस्या आ गई।

ईश्वर मनुष्य को पूजा चढ़ाने के बदले मनचाही वस्तु देने वाला कोई भला आदमी भी नहीं हो सकता, ऐसे व्यक्ति को ईश्वर कैसे मान लें?

धर्म-धर्म ने वर्ग भेद बढ़ाया, पक्षपात की आदत डाल दी, द्वेष भड़काया, ऐसे धर्म को अस्वीकार कर देने में किसी को संकोच क्यों हो?

परलोक पुनर्जन्म किसी ने नहीं देखा है। कर्मफल तत्काल मिलते दीखते नहीं। प्रयोगशाला में तुरंत परिणाम देखने की अभ्यस्त बुद्धि ने इन सबको भी झुठला दिया।

इसी प्रकार पुरानी मान्यताएँ टूटती गईं। नई मान्यताओं के आधार बने नहीं। मानवी बुद्धि चकरा गई, किस आधार पर अपने लिए मर्यादाएँ बनाएँ? इस भ्रम ने सभी तरफ असंतुलन बढ़ा दिया है। सभी इससे चिंतित हैं। जब भी कभी ऐसी स्थिति आती है, मनुष्य को हानि उठानी पड़ती है।

आस्थाहीनसमाजस्य सद्गतिर्नैव संभवा ।

ईश्वरे परलोके च धर्मे कर्मफलेऽपि वा ॥ ६८ ॥

आत्मन्यपि न चैवास्था नैतिके कर्मणीह चेत् ।

अस्यां स्थितावकर्तव्यं कर्तव्यं नैव विद्यते ॥ ६९ ॥

स्वार्थे पशुत्व एवाऽपि नियंता नास्ति कश्चन ।

आत्मीयत्वं सदाचारं नीतिं प्रोत्साहयेच्च कः ॥ ७० ॥

अनास्था वर्द्धते यस्मात्क्रमांतस्माद्धि निश्चितम् ।

आदर्शवादिता पूर्ण भ्रष्टतां याति सर्वतः ॥ ७१ ॥

टीका—आस्थाहीन समाज की सद्गति संभव नहीं। ईश्वर, धर्म, कर्मफल, परलोक आत्मा, नैतिकता किसी पर आस्था नहीं, ऐसे में न कुछ कर्तव्य है और न अकर्तव्य। स्वार्थ-पशुता पर अंकुश लगाने वाला कोई नहीं। आत्मीयता, नीति-सदाचार को प्रोत्साहन कहाँ से मिले? जैसे-जैसे अनास्था बढ़ती है, आदर्शवादिता तहस-नहस होती जाती है ॥ ६८-७१ ॥

मनुष्य का स्वभाव है कि वह ऐसे कार्य में ही रुचि लेता है, जिसकी हानि से उसकी रक्षा हो सके अथवा निश्चित लाभ का विश्वास हो सके। ईश्वर, धर्म, कर्मफल, आत्मा, परमात्मा के प्रति आस्था होने पर मनुष्य को नैतिक आदर्शनिष्ठ जीवन में लाभ और उच्छृंखल जीवन में हानि दीखने लगती है। वे सारे आधार छूट जाने से उसे नैतिक मर्यादा में हानि तथा उच्छृंखलता में लाभ दीखने लगता है। यह भारी भ्रम है। किंतु इस भ्रम का निवारण आस्था के सुदृढ़ आधार बनाए बिना हो भी तो नहीं सकता। इतिहास साक्षी है कि आदर्शवादिता के बिना समाज की गति नहीं तथा आस्था के बिना आदर्शवादिता का निर्वाह संभव नहीं।

आदर्शहीनं सिद्धांतहीनं यद्यच्च जीवनम् ।

प्रवृत्तयः सापराधाः सविलासाः क्षणादिव ॥ ७२ ॥

झञ्झावात इव प्रायो दृश्यन्ते वृद्धिमागताः ।

अनास्था विद्यते नूनं लोके भीमतरोऽसुरः ॥ ७३ ॥

रूपं किमपि नैवास्य स्थानं नैवाऽपि निश्चितम् ।

प्रत्येकस्य जनस्यायं प्रविष्टश्चिन्तनेऽभितः ॥ ७४ ॥

टीका—आदर्शहीन सिद्धांतहीन जीवन, विलासी और अपराधी प्रवृत्तियों को प्रायः आँधी तूफान की तरह बढ़ते देखा जा सकता है। अनास्था भीषणतम असुर है। इसका कोई रूप नहीं, कोई निश्चित स्थान नहीं। वह जन-जन के चिंतन में घुसा बैठा है ॥ ७२-७४ ॥

अपराध पहले भी होते थे। उनके कारण होते थे, आवश्यकताएँ अथवा प्रतिष्ठा के प्रश्न। पर इन दिनों अपराधों की बाढ़ आ गई है। अपराधों में अधिकांश विलासिता के लिए अथवा किन्हीं निकृष्ट उद्देश्यों के लिए मनमानी करने के लिए होते पाए गए हैं। मोटे सर्वेक्षण इस प्रकार हैं।

आतंक फैलाने के लिए बिलकुल बेगुनाहों को मार डालने के प्रकरण भारत में ही नहीं विश्व स्तर पर चिंता के विषय बन गए हैं। हृदयहीनता की यह सीमा कल्पना के बाहर है। विगत कुछ वर्षों में बलात्कारों के आँकड़े दहलाने वाले हैं। सामूहिक बलात्कार तो अपराधों के इतिहास में नई सनसनी है। निर्लज्जता इस सीमा तक भी जा सकती है, किसी

ने सोचा भी न होगा।

चिकित्सा विभाग तथा सुरक्षा विभाग के व्यक्तियों का अपराधियों में शामिल होना ऐसी घटना है, जिसके आधार पर असुरक्षा का भय चरम सीमा को छूने लगा है।

खाद्य वस्तुओं में मिलावट पहले निरर्थक, हानिहीन पदार्थों की ही होती थी। अब आकर्षक रूप देने के लिए हानिकारक और जहरीले पदार्थ मिलाने में भी झिझक नहीं रह गई है। ओषधियों में भी जानलेवा पदार्थों की मिलावट के प्रकरण देखकर लगता है, मनुष्य पर कौन सा पिशाच हावी है?

यह सब अपराध अनास्थाजनित ही है। यही इस युग का असुर है, जो ढेरों असुरों के समान विप्लवकारी सिद्ध हो रहा है।

विद्यमानेऽसुरे चास्मिन् नहि संतुलनस्य तु।

प्रयासाः सफलाः क्वापि संभवन्ति कदाचन ॥ ७५ ॥

प्रयासास्ते च जायन्ते सिकताभीतिदुर्बलाः।

स्थूलैर्यत्नैर्न नष्टः स्याज्जनचैतन्यगोऽसुरः ॥ ७६ ॥

प्रखरादर्शनिष्ठश्च प्रवाहो जनचिंतने।

तदर्थं कार्यं आधारो देयो नव्यः क्षमश्च यः ॥ ७७ ॥

एतदर्थं च विज्ञानं भौतिकं नोपचारताम्।

याति केवलमध्यात्मप्रयोगस्तु परिष्कृतः ॥ ७८ ॥

महती चेददृशानां तु विद्यते देवसंस्कृतौ।

उपचारप्रयोगानां क्षमता अतुला इह ॥ ७९ ॥

टीका—इसके रहते संतुलन लाने के प्रयास सफल नहीं हो सकते। वे बालू की दीवाल की तरह नाकाम होते रहते हैं। जनचेतना में घुस बैठे इस महा असुर को स्थूल प्रयासों से नष्ट नहीं किया जा सकता। उसके लिए जन चिंतन में प्रखर आदर्शनिष्ठ प्रवाह पैदा करना होगा। आस्था के नए सशक्त आधार देने होंगे। इस उद्देश्य के लिए भौतिक विज्ञान नहीं, अध्यात्म विज्ञान का परिमार्जित प्रयोग ही एकमात्र उपचार है। देवसंस्कृति में ऐसे महान उपचार प्रयोग करने की अद्वितीय क्षमता रही है ॥ ७५-७९ ॥

आजकल समस्याओं के समाधान के लिए पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास भी भारी मात्रा में हो रहे हैं। परंतु वे सब प्रयास फलित नहीं हो रहे हैं। एक तरफ बात सँभलती है, तो चार जगह बिगड़ने लगती है। जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्रीय सद्भावना बढ़ाने के प्रयास न जाने किस गर्त में विलीन हो जाते हैं? अणु-आयुधों की दौड़ के समझौते केवल मखौल बनकर रह जाते हैं। नशा, दहेज, भिक्षा-व्यवसाय आदि रोकने के प्रयास शेखचिल्ली के सपने देखकर रह जाते हैं। कारण एक ही है, समस्या के मूल स्तोत्र तक प्रहार नहीं होने पा रहा है।

मुनयो नूनमद्यैतत्स्वरूपं देवसंस्कृतेः।

अस्तव्यस्तमिव प्रायो जातं तत्तुपुरातनम् ॥ ८० ॥

तत्राधुना जनैः सर्वेर्दृश्यते नैकरूपता।

यथाऽन्धा हस्तिनः किञ्चिदंगं प्राप्य तथैव तम् ॥ ८१ ॥

निश्चिन्वन्ति तथा धर्मो जीर्णतायाश्च विकृतेः।

विभाजितत्वहेतोश्चानास्थया स उपेक्षितः ॥ ८२ ॥

विवेकिनो नरास्तेनासंतोषाक्रोशपूरिताः।

दृश्यन्तेऽत्र तथाप्यत्र किञ्चिच्चिन्त्यं मन्यताम् ॥ ८३ ॥

दुर्गतिं वर्तमानां तु वारयिष्यति चान्ततः।

महाकालः समग्रं च परिशोधितुमेव सः ॥ ८४ ॥

प्रज्ञाभियानमत्युग्रं चालयिष्यति ताः स्थितीः।

विधास्यति स्वतो नूनं विपरीता बुधा ऋजूः ॥ ८५ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन पुनः बोले, हे मननशील मुनिजनो इन दिनों देवसंस्कृति का पुरातन स्वरूप अस्त-व्यस्त हो गया है। उसकी एकरूपता नहीं रही। अंधे जिस प्रकार हाथी का जो अंग हाथ की पकड़ में आता है, उसी आकार का उसे मान बैठते हैं। इन दिनों विभाजित, विकृत एवं जराजीर्ण स्थिति बन जाने के कारण ही धर्म के प्रति उपेक्षा, अनास्था बढ़ रही है और विचारशीलों में असंतोष आक्रोश उभर रहा है। इतने पर भी चिंता जैसी कोई बात नहीं है। महाकाल वर्तमान दुर्गति का निवारण करेंगे। इस समग्र, परिशोधन के लिए प्रज्ञा अभियान का तूफानी दौर आरंभ करेंगे। ऐसे प्रचंड परिवर्तन उलटी परिस्थितियों को उलटकर सीधी करते रहे हैं ॥ ८०-८५ ॥

देवसंस्कृति हाथी जैसी ही विशाल है। दृष्टिहीन व्यक्ति टटोलकर उसका सही स्वरूप नहीं समझ पाते हैं। कोई उसे केवल भक्ति से, कोई केवल कर्म से, कोई केवल ज्ञान से सिद्ध करना चाहता है। कोई केवल उपासना से, कोई केवल शास्त्र चर्चा से, कोई केवल प्रार्थना से उसकी शक्ति जागृत करने की सोचते हैं। यह सब भ्रम हटाने होंगे। प्रज्ञा दृष्टि का जागरण करके संस्कृति का समग्र रूप समझना-समझाना होगा, तभी बात बनेगी।

सत्रे स्थितैः समैरेव ज्ञाता जिज्ञासुभिः स्वतः।

धर्मव्याजेन जातास्ते परिणामा अधर्मजाः ॥ ८६ ॥

सहैवात्र नियंतुश्च व्यवस्था शोधनोन्मुखी।

ज्ञाता सोपक्रमा नैषा चिरं स्थास्यति दुर्गतिः ॥ ८७ ॥

विश्वस्तं तैरिदं भूयः परिवर्तनमन्ततः।

भविष्यति तथा भूयो वातावरणमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

आगंता निकटे काले तथा सत्ययुगे पुरा।

विभीषिकास्तदा नैव द्रक्ष्यन्ते भुवि कुत्रचित् ॥ ८९ ॥

टीका—सत्र में उपस्थित जिज्ञासुओं ने धर्म के नाम पर प्रचलित अधर्म आच्छादन के दुष्परिणामों को समझा। साथ

४.५२ प्रज्ञोपनिषद्

ही नियंता की सुधार व्यवस्था का उपक्रम भी समझा। उन्हें विश्वास हो गया कि वर्तमान दुर्गति अधिक समय न रहेगी। परिवर्तन होगा और पुरातन काल जैसा सतयुगी वातावरण निकट भविष्य में फिर वापस लौटेगा। तब पृथ्वी में कहीं भी ये विभीषिकाएँ नहीं दीखेंगी ॥ ८६-८९ ॥

भविष्यत्युज्ज्वलं नृणामनया च शुभाशया।

मुखपद्मानि सर्वेषां विकासमगमंस्ततः ॥ ९० ॥

निराशा खिन्नता चैव गते दूरं क्षणात्ततः।

आश्वासनेन पूज्यस्य सत्राध्यक्षस्य सर्वतः ॥ ९१ ॥

सत्रं चाद्यतनं यातं समाप्तिं पूर्ववत्ततः।

वातावृतौ शुभायां च शांतिपाठेन तत्र तत् ॥ ९२ ॥

कृत्वा परस्परं सर्वे श्रोतारश्चाभिवंदनम्।

कुटीरान् स्वान् गता दिव्यसंदेशानंदिता अथ ॥ ९३ ॥

टीका—उज्ज्वल भविष्य की आशा से सभी के चेहरे कमल पुष्प जैसे खिलने लगे। खिन्नता और निराशा को सत्राध्यक्ष के आश्वासन ने दूर कर दिया। आज का सत्र गत दिवस की भाँति प्रसन्नता के वातावरण में समाप्त हुआ। शांति पाठ, अभिवंदन के उपरांत सभी अपने-अपने निवास कुटीरों में चले गए। दिव्य संदेश से सभी आनंद अनुभव कर रहे थे ॥ ९०-९३ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते आस्था संकट इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥